आचार्यश्री वसुनंदीजी मुनिराज विरचित 'स्वस्वरूप-अवलोकन' (ससरूवालोयणं): एक समग्र दार्शनिक, तात्त्विक एवं साहित्यिक अनुशीलन

लेखक: डॉ. आशीष जैन आचार्य 'शाहगढ़' (राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त)
महामंत्री, प्राकृत भाषा विकास फाउण्डेशन
संयुक्त मंत्री – अ.भा.दि. जैन शास्त्रिपरिषद्

शोध-सार

भारतीय आध्यात्मिक एवं दार्शनिक परम्परा में प्राकृत जैन साहित्य का स्थान सर्वोपरि है। जैनाचार्यों ने आत्म-अनुभूति और तत्त्व-साधना के गूढ़ रहस्यों को प्राकृत की सरल, सुबोध एवं गेय गाथाओं के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाया है। आचार्यश्री वसुनंदीजी मुनिराज विरचित **'स्वस्वरूप-अवलोकन' (ससरूवालोयणं)** शुद्धात्म-प्रतिपादन और अध्यात्म-अनुभूति की एक अनूठी लघु-कृति है। इस कृति में नयवाद (द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, निश्चय-व्यवहार) के माध्यम से आत्मा के नित्य-अनित्य, शुद्ध-अशुद्ध, बद्ध-अबद्ध तथा भिन्नाभिन्न स्वरूप की दार्शनिक व्याख्या की गई है। इसके साथ ही, शुद्धात्मा के देहादि नौकर्म, रागादि भावकर्म एवं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म से रहित चैतन्य स्वभाव, ज्ञानप्रमाण, लोकालोक-व्यापकता, अस्ति-नास्ति धर्म तथा सिद्धावस्था का सूक्ष्म विवेचन मिलता है।

मुख्य शब्द:- स्वस्वरूप-अवलोकन, ससरूवालोयणं, आचार्यश्री वसुनंदीजी, प्राकृत जैन अध्यात्म, नयवाद, निश्चयनय, व्यवहारनय, शुद्धात्मा, अनेकान्तवाद, सिद्धावस्था।

❖ प्रस्तावना

जैन अध्यात्मशास्त्र और तत्त्वज्ञान का विकास मूलतः आत्म-कल्याण और मोक्ष-प्राप्ति के पथ को प्रशस्त करने के लिए हुआ है। जैन मनीषियों ने जहाँ एक ओर न्याय और तर्क के धरातल पर अनेकान्त और स्याद्वाद जैसे महान सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की, वहीं दूसरी ओर साधना और अध्यात्म के धरातल पर स्वानुभूति एवं शुद्धात्म-चर्या को सर्वोपरि स्थान दिया। प्राकृत भाषा इस आध्यात्मिक सन्देश की वाहिका रही है। प्राकृत की गाथाओं में जो भाव-गाम्भीर्य और सरलता मिलती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार्यश्री वसुनंदीजी मुनिराज विरचित **'स्वस्वरूप-अवलोकन' (ससरूवालोयणं)** जैन साधना-पद्धति का एक दीपस्तम्भ है। इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य साधक को बाह्य प्रपंचों, पर-द्रव्यों और

कर्मजन्य विकारों से हटाकर स्वयं के शुद्ध चैतन्य स्वरूप का दर्शन (अवलोकन) कराना है। ग्रन्थकार ने प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया है कि 'स्वसिद्धि' या आत्म-स्वातन्त्र्य की प्राप्ति के लिए सभी सिद्धों और जिनों का स्मरण करके, स्व और पर के परम हित की भावना से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया जा रहा है। प्रस्तुत शोध-आलेख इस महनीय आध्यात्मिक कृति के प्रत्येक दार्शनिक आयाम को उद्घाटित करने का एक विनम्र एवं प्रामाणिक प्रयास है।

२. ग्रन्थ की नय-योजनाः दार्शनिक आधार स्तम्भ

जैन दर्शन में किसी भी वस्तु-तत्त्व को समग्रता से समझने के लिए 'नय' (विवक्षा या दृष्टिकोण) को अनिवार्य साधन माना गया है। आचार्यश्री वसुनंदीजी ने 'स्वस्वरूप-अवलोकन' में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक तथा निश्चय-व्यवहार नयों का अत्यन्त सन्तुलित और वैज्ञानिक प्रयोग किया है।

२.१ द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय (नित्यता बनाम अनित्यता)

जैन तत्त्वमीमांसा के अनुसार प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है। इसी सिद्धान्त को आत्मा पर लागू करते हुए आचार्यश्री वसुनंदीजी गाथा २ में लिखते हैं:

दव्वट्ठिएण णिच्चो, णस्सरसीलो पज्जवट्ठियणयेण।
अणिच्चो अद्धुवो सय, उभयणयेण उभयरुवो हि॥२॥

भावार्थः- द्रव्यार्थिक नय से आत्मा नित्य (शाश्वत) है और पर्यायार्थिक नय से आत्मा नश्वरशील, अनित्य व अध्रुव है। उभय नय (दोनों नयों की संयुक्त विवक्षा) से आत्मा उभयरूप अर्थात् नित्यानित्यात्मक ही है।

यह गाथा जैन दर्शन के एकान्तवाद-निषेध और अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा का उत्कृष्ट उदाहरण है। यदि आत्मा को सर्वथा नित्य माना जाए, तो संसार, बन्धन, मोक्ष-पुरुषार्थ और अवस्था-परिवर्तन असम्भव हो जाएगा। इसके विपरीत, यदि उसे सर्वथा अनित्य (क्षणिक) माना जाए, तो कर्म करने वाला कोई और होगा और उसका फल भोगने वाला कोई और (अकृत-अभ्यागम और कृत-विप्रणाश दोष)[1]। अतः आचार्य स्पष्ट करते हैं कि मूल चैतन्य धातु (द्रव्य) की अपेक्षा से आत्मा सदा

---

[1] **अकृत-अभ्यागम** और **कृत-विप्रणाश** भारतीय दर्शन, विशेषकर **जैन और वैदिक दर्शन के कर्म सिद्धांत** के दो अत्यंत महत्वपूर्ण नियम (या दोष) हैं। ये दोनों सिद्धांत यह सुनिश्चित करते हैं कि ब्रह्मांड में न्याय की व्यवस्था बनी रहे और कर्म का फल अचूक हो। यदि कोई दर्शन इन नियमों को नहीं मानता, तो उसमें ये दो 'दोष' (तार्किक कमियाँ) आ जाती हैं। आइए इन्हें आसान शब्दों में समझते हैं:-

1. अकृत-अभ्यागम-

- ***अर्थः*** 'अकृत' का मतलब है जो किया न गया हो, और 'अभ्यागम' का मतलब है आ जाना या मिलना।

नित्य और ध्रुव है , किन्तु उसकी नर , नारक, देव, तिर्यञ्च आदि पर्यायें अथवा क्षणिक मानसिक अवस्थाएँ अनित्य हैं।

२.२ निश्चय एवं व्यवहार नय (शुद्धता और कर्तृत्व-भोक्तृत्व का द्वन्द्व)

आत्मा के व्यावहारिक और पारमार्थिक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए निश्चय और व्यवहार नय की योजना की गई है:

पुग्गलकत्ता भोत्ता, अमुद्धो (असुद्धो) आदा ववहारणयेण।
सुद्धणयेण सुद्धो, सुद्धभावकत्ता भोत्ता य॥3 ॥

भावार्थः- व्यवहार नय से आत्मा अशुद्ध है एवं पुद्गलकर्मों का कर्ता और भोक्ता है। शुद्धनय (निश्चयनय) से आत्मा शुद्ध है एवं अपने शुद्ध भावों का ही कर्ता और भोक्ता है।

सांसारिक अवस्था में जीव कर्मजन्य उपाधियों से घिरा हुआ है। व्यवहारनय इसी बद्ध - अवस्था का निरूपण करता है, जिसके कारण जीव को क्रोध, मान, माया, लोभ का कर्ता और सुख-दुःख का भोक्ता कहा जाता है परन्तु यह आत्मा का स्वाभाविक रूप नहीं है। शुद्धनय (पारमार्थिक दृष्टि) से आत्मा सदा शुद्ध , बुद्ध और केवल अपने ज्ञान -दर्शन रूप चैतन्य -परिणामों का ही कर्ता - भोक्ता है। यह भेद-विज्ञान ही मोक्षमार्ग का प्रस्थान बिन्दु है।

- **सिद्धांतः** इसका सीधा नियम है कि **जिस कर्म को आपने किया ही नहीं है, उसका फल आपको कभी नहीं मिल सकता।**
- **दोष कब होता है ?:** यदि कोई व्यक्ति बिना कोई पाप या पुण्य किए सुख या दुख भोग रहा है, तो दर्शन शास्त्र में इसे 'अकृत-अभ्यागम दोष' कहा जाता है। न्याय के सिद्धांत के अनुसार, आपको केवल उसी काम का परिणाम मिल सकता है जो आपने खुद किया हो।

2. कृत-विप्रणाश -

- **अर्थः** 'कृत' का मतलब है जो किया गया है, और 'विप्रणाश' का मतलब है नष्ट हो जाना।
- **सिद्धांतः** इसका नियम है कि **आपके द्वारा किए गए किसी भी कर्म का फल कभी भी बिना भोगे नष्ट नहीं हो सकता।** हर कर्म (अच्छा या बुरा) अपना परिणाम देकर ही समाप्त होता है।
- **दोष कब होता है ?:** यदि कोई व्यक्ति बहुत अच्छे या बुरे कर्म करता है, लेकिन उसे उसका फल मिले बिना ही वह कर्म गायब या नष्ट हो जाए, तो उसे 'कृत-विप्रणाश दोष' कहते हैं। कर्म सिद्धांत मानता है कि कर्म कभी बेकार नहीं जाता।

इन्हें एक उदाहरण से समझें:- मान लीजिए दो बच्चे एक ही अस्पताल में एक ही समय पर पैदा होते हैं। एक बहुत अमीर परिवार में जन्म लेता है और दूसरा बहुत गरीब परिवार में।

- यदि हम उनके **पूर्व जन्म के कर्मों को न मानें**, तो अमीर बच्चे को बिना कुछ किए सुख मिल गया (यह **अकृत-अभ्यागम दोष** होगा)।
- वहीं, पिछले जन्मों के अच्छे-बुरे कर्मों का फल इस जन्म में न मिलना **कृत-विप्रणाश दोष** कहलाएगा।

इसलिए, भारतीय दर्शन इन दोनों दोषों से बचने के लिए **पुनर्जन्म और कर्म के अटूट सिद्धांत** को स्वीकार करता है। इसके अनुसार, वर्तमान का सुख-दुख हमारे पिछले अनकहे कर्मों का ही फल है।

२.3 निश्चय, व्यवहार और शुद्धनय का घृत-दुग्ध उपमान

आचार्यश्री वसुनंदीजी ने नयों की सूक्ष्मता को समझाने के लिए एक व्यावहारिक और लोक - प्रसिद्ध उपमान (दृष्टान्त) का प्रयोग किया है, जो अध्यात्म ग्रन्थों में विरल है:-

घिदजुददुद्धं ववहारो, णिच्छओ पिधु पिधु घिदं दुद्धं।
णमामि सुद्धं सिद्धं, घिदमिव सय सुद्धणिच्छयेण॥४॥

भावार्थ - व्यवहार नय घृत-युक्त दूध (घी मिले हुए दूध) के समान है, निश्चयनय पृथक-पृथक घी और दूध के समान है , तथा शुद्ध निश्चयनय केवल घी (घृत) के समान है। उस शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से मैं शुद्ध, सिद्ध और घृत के समान परम शुद्ध आत्मा को नमस्कार करता हूँ।

यह गाथा नय-प्रक्रिया का अनुपम वर्गीकरण प्रस्तुत करती है:-

1. **व्यवहार नय (घृत-युक्त दूध):** जैसे दूध में घी शक्ति रूप से घुला-मिला रहता है और सामान्य जन उसे केवल 'दूध' कहते हैं, वैसे ही संसारी आत्मा और कर्मों का एकत्व देखना व्यवहार है।
2. **निश्चय नय (पृथक-पृथक दूध और घी):** जैसे विवेकशील पुरुष दूध से घी निकालने की विधि जानकर दोनों की भिन्नता को समझता है , वैसे ही निश्चयनय जीव और कर्मपुद्गल को भिन्न-भिन्न रूप में देखता है।
3. **शुद्ध निश्चयनय (केवल घृत):** जैसे अन्ततः प्राप्त हुआ शुद्ध घी अपने आप में अद्वितीय और मैलरहित होता है , वैसे ही शुद्ध निश्चयनय आत्मा को कर्मों के सम्बन्ध से सर्वथा रहित , शुद्ध निष्कल स्वरूप में साक्षात अवलोकित करता है।

२.४ भेद-अभेद मीमांसा

नय चक्र के अन्तर्गत अभेद और भेद नयों का आत्म -प्रदेशों और गुणों पर प्रभाव निम्न प्रकार दर्शाया गया है:

दुग-अभेय-रूव-मिगं, भेयरूव च भणेदि ववहारो।
सुद्धणयो सुद्धं चिय, गहेदि असुद्धं णो कयावि॥५॥

भावार्थ - व्यवहार नय दो भिन्न (भेद रूप द्रव्यों) को अभेदरूप से और एक अखण्ड (अभेद रूप द्रव्य) को भेद रूप में कहता है। इसके विपरीत , शुद्ध नय मात्र शुद्ध द्रव्य को ही ग्रहण करता है , वह अशुद्ध को कदापि ग्रहण नहीं करता।

असंखपदेसि- अप्पा, अभेदरुवो अभेदनयेण हि।
चिम्मय- गुण- समूहो य, भेदनयेण संविदिदव्वो॥६॥

भावार्थ :- असंख्यात प्रदेशी यह आत्मा अभेदनय से अखण्ड एक रूप ही है , तथा भेदनय की दृष्टि से इसे चिन्मय (ज्ञान-दर्शन आदि) गुणों का समूह जानना चाहिए।

आत्मा स्वरूप से अखण्ड है। उसमें ज्ञानादि गुण पानी और शक्कर की भाँति मिले हुए हैं। जब हम कहते हैं कि **यह आत्मा का ज्ञान है, यह आत्मा का दर्शन है** तो यह भेदनय की विवक्षा है किन्तु जब हम उसे **ज्ञानमात्र चैतन्यपिण्ड** के रूप में अनुभव करते हैं, तो वह अभेदनय का विषय बनता है।

3. शुद्धात्मा का लक्षण और स्वरूप-मीमांसा

आचार्यश्री वसुनंदीजी ने ग्रन्थ की गाथा ८ से ११ तक निषेधात्मक और विधानात्मक पद्धतियों से शुद्धात्मा के परम विशुद्ध स्वरूप को व्याख्यायित किया है।

3.1 बाह्य देह और शारीरिक अंगों का निषेध (अशरीरत्व)

संसारी जीव अज्ञानवश देह को ही आत्मा मान बैठता है। आचार्य इस मोह -ग्रन्थि पर प्रहार करते हुए लिखते हैं:-

आदा णेव सरीरं, ण अंगोवंगो हत्थपादादी।
कण्ण- णासा- णयण- मुह- विट्ठि- णह- रोमादि- रहिदो दु॥८॥

भावार्थ :- आत्मा न तो शरीर है , न अङ्गोपाङ्ग (हाथ-पैर आदि) है, और न ही वह कान , नासिका, नयन (नेत्र), मुख, पीठ, नख तथा रोमादि (रोमकूप) से युक्त है; वह इन सबसे सर्वथा रहित है।

जैन दर्शन में पुद्गल और जीव दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं। शरीर पुद्गल की रचना है। रूप , रस, गन्ध, स्पर्श शरीर के धर्म हैं , चैतन्य के नहीं। आत्मा अमूर्तिक होने के कारण भौतिक हाथ -पैर, नाक-कान आदि से सर्वथा अछूती है। अध्यात्म ग्रन्थों की यह घोषणा साधक को 'देह-बुद्धि' से मुक्त कर 'आत्म-बुद्धि' में प्रतिष्ठित करने के लिए है।

3.2 आध्यात्मिक सोपानों और कर्मावस्थाओं का निषेध

शुद्ध निश्चयनय की पराकाष्ठा पर पहुँचकर आत्मा को गुणस्थानों और मार्गणाओं से भी पार देखा जाता है:-

सुद्धप्पे णो लेस्सा, गुणट्ठाणं णेव मग्गणा णेव।
ण गदि- इंदियादी य ण, उदय- खय- खओवसम- भावा॥९॥

भावार्थ :- शुद्धात्मा में न तो लेश्या है , न गुणस्थान है, और न ही मार्गणा स्थान है। उसमें न गति है , न इन्द्रियाँ हैं, और न ही कर्मों का उदय, क्षय तथा क्षयोपशम भाव हैं।

लेश्या (कषायनुरंजित योग), गुणस्थान (मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्म - विकास के १४ सोपान) तथा मार्गणाएँ (जीवों की खोज के १४ द्वार) संसारी जीव के व्यावहारिक वर्गीकरण हैं। शुद्ध स्वरूप में ये सब अनुपस्थित हैं। यहाँ तक कि कर्मसापेक्ष औदयिक , क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव भी शुद्ध पारिणामिक भाव के सामने गौण हो जाते हैं। शुद्धात्मा त्रैकालिक परम शुद्ध चैतन्यमात्र है।

3.3 शुद्धात्मा के सकारात्मक विशेषण

गाथा १० में आचार्यश्री वसुनंदीजी महाराज ने स्वानुभूति के क्षण में प्रकट होने वाले शुद्धात्मा के १० विशिष्ट विशेषणों का वर्णन किया है:-

एक्को हं णैरायो, णिकलंको अमुत्तिगो णिद्दोसो।
णिद्दुक्खो णिम्मोहो, णिम्ममो णिरओ(णिरजो) णिरोगो॥१०॥

भावार्थ :- मैं वास्तव में अकेला (एक) हूँ, नीराग (राग-रहित) हूँ, निष्कलङ्क हूँ, अमूर्तिक हूँ, निर्दोष हूँ, दुःख-रहित हूँ, निर्मोह हूँ, ममता-रहित (निर्मम) हूँ, धूलि (कर्म-रज) से विहीन हूँ और नीरोग (सदा स्वस्थ) हूँ। यह गाथा साधक के आत्म -सम्बोधन ('हं' अर्थात् 'मैं') की शैली में लिखी गई है , जो समाधि और ध्यान की चरम परिणति को दर्शाती है।

3.4 अमूर्तिकत्व और अवक्तव्यता

आत्मा इन्द्रियगोचर पदार्थ नहीं है , अतः उसे इन्द्रिय -संकेतों द्वारा पूर्णतः व्यक्त नहीं किया जा सकता:-

अरस- अरूव- अगंधो, इंदियादि- लिंगेहिं अगहणीयं।
अणिद्दिट्ठसंठाणो, असद्दो अवत्तव्वो आदा य॥११॥

भावार्थ :- आत्मा रस-रहित, रूप-रहित, गन्ध-रहित है तथा इन्द्रियादि चिह्नों द्वारा सर्वथा अग्राह्य है। वह अनिर्दिष्ट संस्थान (आकार) वाली, शब्द-रहित एवं अवक्तव्य है।

४. अनेकान्तात्मक आत्म-तत्त्व

आचार्यश्री वसुनंदीजी ने आत्मा के बहुआयामी अनेकान्तात्मक स्वरूप को विभिन्न गाथाओं में सन्तुलित दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है।

४.१ एकानेकात्मकता (एक और अनेक)

आदा एकाणेगो, अणेगो चिय पदेसावेक्खाय।
दव्वावेक्खाय एक्को, उभयरुवो उभयावेक्खाय॥१२॥

भावार्थः- आत्मा एक भी है और अनेक भी है। प्रदेश (क्षेत्रफल/प्रदेश संख्या) की अपेक्षा से वह अनेक (असंख्यात प्रदेशी) है, द्रव्य की अपेक्षा से वह एक अखण्ड है, और दोनों की अपेक्षा से वह उभयरूप (एकानेकात्मक) है।

४.२ बद्धाबद्धता (कर्म और गुण सापेक्ष)

जीव कर्मों से बँधा है या मुक्त? इसका उत्तर आचार्यश्री वसुनंदीजी नय-विवक्षा से देते हैं:-

आदा बद्धाबद्धो, बद्धो णाणदंसणादि- गुणेहिं।
कम्मेहिं सय अबद्धो, उभयेणं बद्धाबद्धो य॥13॥

भावार्थः- आत्मा बद्ध भी है और अबद्ध भी है। अपने अनन्त ज्ञान-दर्शनादि स्वाभाविक गुणों से वह सदा बद्ध (एकरूप) है, किन्तु पुद्‌गल कर्मों से वह सदा अबद्ध (अछूता) है। दोनों नयों की अपेक्षा से वह बद्धाबद्ध है।

4.1 स्वपर्याय-परिणमनशीलता और स्वभाव-स्थिरता

आत्मा स्थिर कूटस्थ नित्य नहीं है, अपितु उसमें स्व-परिणामी नित्यता है:

सय परिवट्टणसीलो, णैव सगसहावं विजहदे किण्णु।
आदा णो परभावं, जदि गहदे चुयदि सीलादो॥१४॥

भावार्थः- आत्मा स्वयं निरन्तर परिणमनशील है, किन्तु वह अपने चैतन्य स्वभाव को कभी नहीं छोड़ती। वह पर-भावों (पर-द्रव्यों के स्वभाव) को कभी ग्रहण नहीं करती, और यदि वह परभाव को ग्रहण करे, तो वह अपने मूल स्वभाव (शील) से च्युत (पतित) हो जाएगी।

४.४ भिन्नाभिन्नता (स्व और पर की सीमा रेखा)

आदा भिण्णाभिण्णो, सगगुणेसु सव्वदा अभिण्णो हि।
परदव्वदो भिण्णो, उभयो पुण उभयावेक्खाय॥१५॥

भावार्थः- आत्मा भिन्न भी है और अभिन्न भी है। वह अपने ज्ञानादि गुणों से सदा अभिन्न (एक) है और पर-द्रव्यों (शरीरादि) से सदा भिन्न (पृथक्) है। उभय दृष्टि से वह भिन्नाभिन्न है।

५. आत्म-तत्त्व की व्यापकता, प्रमाण एवं कर्म-निषेध

आत्मा का आकार कितना है ? और उसका कर्मों से क्या सम्बन्ध है ? इसका विस्तृत प्रतिपादन गाथा १७ से २० में किया गया है।

५.१ स्वचतुष्टय और परचतुष्टय (अस्ति-नास्ति धर्म)

जैन न्याय का सुप्रसिद्ध अस्ति -नास्ति सिद्धान्त आत्मा के अस्तित्व को सुरक्षित रखने की वैज्ञानिक पद्धति हैः-

आदा अत्थि णत्थि चिय, अत्थि य सगचदुट्टयावेक्खाय।
परचदुट्टयावेक्खाय, णत्थि आदा संविदिदव्वो॥१७॥

भावार्थः- आत्मा अस्ति -नास्ति स्वरूप है। स्व -चतुष्टय (स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्व -भाव) की अपेक्षा से आत्मा का अस्तित्व (अस्ति) है, और पर -चतुष्टय (पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव) की अपेक्षा से उसका नास्तित्व (नास्ति) जानना चाहिए।

यदि आत्मा में केवल 'अस्ति' (अस्तित्व) माना जाए और 'नास्ति' न माना जाए, तो जगत के समस्त पुद्गल, घट-पट और अन्य जीव भी आत्मा का हिस्सा बन जाएँगे, जिससे '**सर्वसंकर दोष**'[2] उत्पन्न होगा। वहीं, यदि केवल 'नास्ति' माना जाए, तो **शून्यत्व**[3] आ जाएगा। अतः स्व की अपेक्षा से होना (अस्ति) और पर की अपेक्षा से न होना (नास्ति) ही आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा करता है।

---

[2] **सर्वसंकर दोष :-** सब कुछ आपस में मिल जाना (खिचड़ी बनना)। जब नियमों के अभाव में कर्म, फल और जीवों के अनुभव आपस में इस तरह मिल जाएं कि **न्याय व्यवस्था पूरी तरह अराजक हो जाए।**

[3] **जैन दर्शन** एक वस्तुवादी और यथार्थवादी दर्शन है, जो संसार की हर चीज़ को वास्तविक मानता है। इसलिए, बौद्ध दर्शन (विशेषकर माध्यमिक मत या नागार्जुन) के **'शून्यत्व' (शून्यता)** सिद्धांत का जैन आचार्यों (जैसे आचार्य समंतभद्र, सिद्धसेन दिवाकर और हरिभद्र सूरि) ने बहुत कड़ा खंडन किया है। जैन दर्शन के अनुसार, यदि सब कुछ शून्य (स्वभाव-रहित या अस्तित्व-हीन) मान लिया जाए, तो पूरी व्यवस्था ही ढह जाएगी। जैन विचारकों ने शून्यत्व का खंडन मुख्य रूप से निम्नलिखित तर्कों के आधार पर किया हैः-

५.२ ज्ञानप्रमाण और लोकालोक-व्यापकता (ज्ञान-अपेक्षा सर्वगतत्व)

जैन दर्शन आत्मा को क्षेत्र से शरीर -प्रमाण मानता है , किन्तु ज्ञान की अपेक्षा से उसे लोकालोक-व्यापी (सर्वगत) स्वीकार करता है:-

णाणपमाणं आदा, णादव्वं णाणं णेयपमाणं।
णेयं लोयालोयं, तम्हा अप्पा दु सव्वगदा॥१८॥

भावार्थ :-आत्मा ज्ञान-प्रमाण है, ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण है, और ज्ञेय सम्पूर्ण लोकालोक है; अतः (ज्ञान की व्यापकता की अपेक्षा से) आत्मा को सर्वगत (लोकालोक-व्यापी) जानना चाहिए।

यह गाथा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि क्षेत्र की दृष्टि से संसारी आत्मा अपने शरीर के आकार के बराबर संकोच-विस्तार वाली होती है , तथापि उसका केवलज्ञान लोकालोक के समस्त पदार्थों को युगपत् जानता है। जानने की इस असीम सामर्थ्य के कारण ही आत्मा को 'सव्वगद' (सर्वगत) कहा गया है।

---

1. शून्यत्व स्वयं का ही खंडन करता है – जैन आचार्यों का सबसे पहला और अकाट्य तर्क यह है कि यदि दुनिया की हर चीज़ शून्य (असत्य) है, तो **'शून्यत्व का सिद्धांत' भी तो इसी दुनिया का हिस्सा है, इसलिए वह भी शून्य यानी असत्य होना चाहिए।**

- यदि बौद्ध कहते हैं कि शून्यता का सिद्धांत सच्चा है, तो उनका यह दावा गलत हो जाता है कि सब कुछ शून्य है।
- यदि शून्यता का सिद्धांत भी शून्य (झूठा) है, तो फिर उसे मानने की ज़रूरत ही क्या है ?

2. कथकथंचित् सत्-असत् (अनेकांतवाद बनाम शून्यता)- जैन दर्शन **अनेकांतवाद** को मानता है। इसके अनुसार कोई भी वस्तु पूरी तरह 'शून्य' या पूरी तरह 'नित्य' नहीं होती।

- वस्तु अपने **स्वरूप (स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव)** से 'सत्' (है) होती है। जैसे—घड़ा मिट्टी के रूप में मौजूद है।
- वस्तु दूसरे के रूप **(पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव)** की अपेक्षा से 'अशून्य' या 'असत्' (नहीं है) होती है। जैसे—घड़ा कपड़ा नहीं है।
- बौद्ध दर्शन वस्तुओं को 'परस्पर निर्भर' (प्रतीत्यसमुत्पाद) मानकर उन्हें स्वभाव से पूरी तरह शून्य कह देता है। जैन दर्शन कहता है कि निर्भर होने के बावजूद वस्तु का अपना एक **स्वभाव** होता है, वह पूरी तरह गायब नहीं हो जाती।

3. प्रमाण और ज्ञान का लोप – यदि सब कुछ शून्य है, तो ज्ञान प्राप्त करने के साधन (प्रत्यक्ष आँखें, अनुमान बुद्धि, और शास्त्र) भी शून्य हो जाएंगे।

- यदि जानने वाला (आत्मा) शून्य है और जानने योग्य वस्तु (संसार) भी शून्य है, तो फिर ज्ञान किसको और किसका होगा ?
- ऐसी स्थिति में ज्ञान और अज्ञान का अंतर ही खत्म हो जाएगा, जिसे जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता।

4. मोक्ष और साधना का निरर्थक होना – बौद्ध दर्शन में भी दुखों से मुक्ति (निर्वाण) की बात कही गई है। जैन आचार्य तर्क देते हैं कि यदि आत्मा का कोई वास्तविक अस्तित्व ही नहीं है और वह केवल शून्य है, तो फिर **साधना कौन कर रहा है और मोक्ष किसे मिलेगा ?**

- बिना किसी वास्तविक आधार (आत्मा) के बंधनों से छूटना या मोक्ष पाना असंभव है।

5. व्यावहारिक जगत (संसार) झूठा नहीं हो सकता – हम रोज़मर्रा की जिंदगी में आग से हाथ जलते हुए देखते हैं, पानी से प्यास बुझाते हैं। यदि सब कुछ शून्य या भ्रम है, तो आग से हाथ नहीं जलना चाहिए और पानी से प्यास नहीं बुझनी चाहिए। जैन दर्शन कहता है कि जगत की क्रियाएँ सिद्ध करती हैं कि वस्तुएँ शून्य नहीं, बल्कि पूरी तरह वास्तविक हैं।

संक्षेप में कहें तो:- जैन दर्शन के अनुसार, बौद्धों का शून्यत्व संसार को 'अभाव' या 'निषेध' की तरफ ले जाता है। इसके विपरीत, जैन दर्शन **'स्याद्वाद'** के माध्यम से कहता है कि वस्तु में 'होना' (अस्तित्व) और 'ना होना' (नास्तित्व) दोनों धर्म एक साथ रहते हैं, इसलिए वस्तु शून्य नहीं बल्कि **अनेकांतात्मक (अनंत गुणों वाली)** है।

5.3 त्रिविध कर्म-विपाक से रहित शुद्धात्म-स्वरूप

जीव- भव- खेत्त- पुग्गल- विवागि- वज्जिदो तिविहकम्मादो।
घादि- अघादि- रहिदो य, सगसहावजुदो सुद्धप्पा॥१९॥

भावार्थ :- शुद्धात्मा जीवविपाकी , भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और पुद्गलविपाकी कर्मों से सर्वथा रहित है। वह द्रव्यकर्म , भावकर्म और नोकर्म रूप तीनों प्रकार के कर्मों से वर्जित है तथा घातिया और अघातिया कर्मों से रहित होकर केवल अपने स्वाभाविक चैतन्य स्वरूप से युक्त है।

५.४ असंख्यात लोकप्रदेश प्रमाण और संकोच-विस्तार

असंख- लोयप्पदेस- पमाण- आदा वि णैव ओग्गहदे।
पदेसमिगं ण मुंचदि, तम्हा अप्पा दु अप्पगदा॥२०॥

भावार्थ :- असंख्यात लोक-प्रमाण प्रदेशों वाली यह आत्मा कभी एक प्रदेश को भी न तो (पर-क्षेत्र में) छोड़ती है और न ही स्व -प्रदेश से च्युत होती है। अतः आत्मा सर्वथा अपने आप में ही लीन (आत्मगत) है।

६. सिद्धावस्था और मोक्ष-तत्त्व

ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में साधना की चरम परिणति 'सिद्धावस्था' का अनुपम वर्णन मिलता है।

६.१ सिद्धों का स्वरूप और तनुवातवलय निवास

मोक्ष प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी कहाँ निवास करते हैं और उनका स्वरूप कैसा है ? गाथा १६ इसका चित्र खींचती है:-

तणुवादावलयफासिद- अप्पपदेसा जस्स णिक्लं तं।
णिक्कम्म- णिरायारं णिरजं णिम्मलं णमंसामि॥१६॥

भावार्थ :- जिनके आत्मप्रदेश लोकशिखर पर स्थित तनुवातवलय को स्पर्श कर रहे हैं ; जो निष्कल (शरीररहित), निष्कर्म (आठों कर्मों से रहित), निराकार (नोकर्म रहित), रज-रहित (भावकर्म रहित) और विमल हैं, उन सिद्ध भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ।

६.२ सिद्धात्मा के अष्टगुण और निर्गुणी स्वरूप का समन्वय

सिद्धावस्था में व्यावहारिक रूप से आठ गुण (केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, व्याबाधत्व) प्रकट होते हैं , परन्तु शुद्धनय से वे इन भेदों से भी रहित हैं:-

णिग्गुणी गुणी अगुणी, आदा वसुगुणजुदो ववहारेण।
गुणवसुं णंदिदुं हं, पणमामि सुद्धप्पं सिद्धं॥२१॥

भावार्थ :- आत्मा निश्चय से निर्गुणी (भेद-रहित), गुणी (अनन्त गुणों से युक्त) और अगुण (प्राकृत गुणों से रहित) है; वह व्यवहार नय से आठ गुणों (वसुगुणों) से युक्त है। उन आठ गुणों के आनन्द की प्राप्ति के लिए मैं शुद्ध, सिद्ध परमात्मा को नमस्कार करता हूँ।

७. भाषिक, साहित्यिक एवं काव्यात्मक अनुशीलन

'स्वस्वरूप-अवलोकन' केवल एक गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ नहीं है , बल्कि साहित्यिक दृष्टि से भी यह प्राकृत काव्य-परम्परा की एक उत्कृष्ट धरोहर है।

७.१ छंद योजना और गेयता

समग्र ग्रन्थ में **'गाथा'** (आर्या) छंद का प्रयोग किया गया है। गाथा प्राकृत का प्रतिनिधि छंद है , जो अपनी लयात्मकता और गेयता के लिए जाना जाता है। इसकी लयबद्धता के कारण साधक इन गाथाओं को ध्यान और सामायिक के समय सहजता से कण्ठस्थ कर गुनगुना सकते हैं।

७.२ पारिभाषिक प्राकृत-शब्दावली का विश्लेषणात्मक कोष्ठक

ग्रन्थ की दार्शनिक प्रामाणिकता को रेखांकित करने के लिए प्रयुक्त प्रमुख प्राकृत पारिभाषिक शब्दों का विश्लेषण निम्न तालिका में प्रस्तुत है:-

क्र. सं.	प्राकृत शब्द (मूल ग्रन्थ)	संस्कृत छाया	हिन्दी अर्थ	दार्शनिक सन्दर्भ
१	**दव्वट्ठिएण**	द्रव्यार्थिकेन	द्रव्यार्थिक नय से	मूल शाश्वत सत्ता का वाचक
२	**पज्जवट्ठिएण**	पर्यायार्थिकेन	पर्यायार्थिक नय से	क्षणिक अवस्थाओं का निरूपण
*	**पुग्गलकत्ता**	पुद्गलकर्ता	पुद्गल कर्मों का कर्ता	व्यावहारिक बन्धन का सूचक
४	**णिरायारं**	निराकारम् / निराकार	नोकर्म (शरीर) रहित	सिद्धों का अशरीरी स्वरूप

५	**सव्वगदं**	सर्वगतम् / सर्वव्यापी	ज्ञान-अपेक्षा सर्वव्यापी	केवलज्ञान की अनन्त सामर्थ्य
६	**अप्पगदं**	आत्मगतम्	स्वयं में स्थित	प्रदेशों के संकोच-विस्तार का नियम
७	**वसुगुणजुदो**	वसुगुणयुक्तः	आठ गुणों से युक्त	सिद्धों के अष्टगुण

८. निष्कर्ष एवं उपसंहार

आचार्यश्री वसुनंदीजी मुनिराज विरचित 'स्वस्वरूप-अवलोकन' (ससरूवालोयणं) जैन अध्यात्म और नय -प्रक्रिया का एक अमूल्य ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने अपनी २१ गाथाओं के संक्षिप्त कलेवर में समुद्र की भाँति गम्भीर अर्थ को समेट लिया है। इस शोध-आलेख के माध्यम से यह सिद्ध होता है कि:-

1. ग्रन्थ की नय -योजना (विशेष रूप से घृत -दुग्ध का अनुपम उपमान) अत्यन्त सरल ढंग से गम्भीर दार्शनिक सत्यों को उद्घाटित करती है।
2. शुद्धात्मा का स्वरूप केवल नकारात्मक निषेधों तक सीमित नहीं है , बल्कि वह अनन्त गुणों के परम आनन्द और लोकालोक-व्यापकता से सम्पन्न एक सक्रिय चैतन्य सत्ता है।
3. भाषिक दृष्टि से प्राकृत की गेय गाथाओं ने अध्यात्म को लोकमानस के लिए सुलभ बनाया है।

अतः 'स्वस्वरूप-अवलोकन' का स्वाध्याय न केवल तात्त्विक जिज्ञासाओं को शान्त करता है , बल्कि मुमुक्षुओं के लिए आत्मानुभूति का साक्षात् मार्ग भी प्रशस्त करता है।

९. सन्दर्भ-सूची

1. **स्वस्वरूप-अवलोकन (ससरूवालोयणं):** आचार्यश्री वसुनंदीजी मुनिराज विरचित , मूल प्राकृत पाठ एवं हिन्दी अनुवाद।
2. **प्रवचनसार:** आचार्य कुन्दकुन्ददेव।
3. **आलापपद्धति:** आचार्य देवसेन।
4. **जैन नय मीमांसा:** पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी।